वस्तुत्व महाकाव्य में धर्म का स्वरूप : एक दार्शनिक एवं समकालीन अनुशीलन

लेखकः

डॉ. आशीष जैन आचार्य 'शाहगढ़'

(राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त)

महामंत्री, प्राकृत भाषा विकास फाउण्डेशन, सागर (म.प्र.)

❖ **प्रस्तावना :–** भारतीय संस्कृति जीवन जीने और जीवन को पूर्ण करने महत्वपूर्ण सोपान प्रदान करती है। इस भारतीय संस्कृति के जीवन्त स्वरूप को भारतीय काव्य परम्परा में अत्यंत सरल रीति से प्रवाहित किया गया है। यह काव्य परम्परा केवल आनंद का विषय नहीं है, अपितु आत्मानुभव, जीवन-दर्शन, संस्कृति, धर्म, नीति और लोकमंगल की भावनाओं का श्रेष्ठतम केन्द्रबिन्दु रहा है। यह संवाहक है उन सभी विषयों का, जिनसे मानव के जीवन को प्रसन्नता, आनंद, सुख और आत्मीयता प्राप्त होती है। इस काव्य परम्परा में जहाँ एक ओर लोकसाहित्य ने अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाया है वहीं दूसरी ओर धार्मिक साहित्य ने भी अत्यंत श्रेष्ठ रीति से काव्य को प्रस्तुत किया है। धार्मिक काव्य परम्परा में जैन काव्यों का सृजन भारतीय संस्कृति के लिए महत्वपूर्ण उपक्रम रहा है क्योंकि इस सम्पूर्ण संस्कृति के वाङ्मय को समृद्ध करने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है। प्रायः सभी भाषाओं में काव्य का सृजन हुआ है- प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, तमिल, कन्नड, मराठी, उडिया, असमिया, हिन्दी आदि। वर्तमान में, हिन्दी काव्य परम्परा में अनेक कवियों द्वारा काव्य का परम्परा का निर्वहन करते हुए काव्यों का सृजन किया जा रहा है परंतु वे काव्य महाकाव्य जैसे उत्कृष्ट मानकों पर खरे उतरे, यह आवश्यक नहीं है। इसी परम्परा में दिगम्बर आचार्यश्री 108 विशुद्धसागरजी महाराज द्वारा प्रणीत *वस्तुत्व महाकाव्य* एक विशिष्ट आधुनिक व्य-कृति के रूप में सामने आता है। प्रकाशित सामग्री में इसे 12 खंडों और लगभग 1200 काव्य/पद्यों वाली ऐसी कृति के रूप में वर्णित किया गया है जिसमें जैन धर्म, दर्शन, अध्यात्म, न्याय-नीति, अहिंसा, शाकाहार, इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य, अनेकान्त और स्याद्वाद आदि विविध विषयों का काव्यात्मक निरूपण मिलता है।

वस्तुत्व महाकाव्य की केंद्रीय संवेदना **आत्मा के वस्तुत्व-बोध से आत्मोन्नति और परमात्मत्व की दिशा में प्रस्थान** है। इसमें धर्म को बाह्य आडंबर अथवा मात्र कर्मकांड के रूप में न देखकर आत्मस्वरूप की पहचान, आत्मशोधन, समता, संयम, अहिंसा, क्षमा, अपरिग्रह, अनेकान्त और आत्मानुशासन के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। इस महाकाव्य पर आयोजित विद्वत्-विमर्शों में भी वस्तु के स्वरूप, आत्मतत्त्व, नय, नीति, न्याय, स्याद्वाद और अनेकान्त के माध्यम से धर्म को जीवन-रूपांतरण का प्रयोग बनाने की बात सामने आई है।

वर्तमान समय में जब मनुष्य वैज्ञानिक एवं तकनीकी दृष्टि से अत्यधिक उन्नत होते हुए भी मानसिक तनाव, असंतोष, हिंसा, असहिष्णुता, उपभोक्तावाद, संग्रहवृत्ति, नैतिक संकट और सामाजिक विघटन जैसी समस्याओं से जूझ रहा है, तब *वस्तुत्व महाकाव्य* में प्रतिपादित धर्म-दृष्टि अत्यंत प्रासंगिक है। प्रस्तुत शोध आलेख में *वस्तुत्व महाकाव्य* के धर्म-स्वरूप का दार्शनिक विवेचन करते हुए उसकी समकालीन उपयोगिता का अनुशीलन किया गया है।

बीज शब्दः वस्तुत्व महाकाव्य, आचार्य विशुद्धसागर, धर्म, वस्तुत्व, आत्मा, परमात्मा, आत्मशोधन, समता, अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्त, स्याद्वाद, आत्मानुशासन।

❖ 'वस्तुत्व' : शब्द से दर्शन तक

वस्तुत्व महाकाव्य के धर्म-दर्शन को समझने के लिए 'वस्तु' और 'वस्तुत्व' की दार्शनिक अवधारणा को समझना आवश्यक है। जैन दर्शन में वस्तु द्रव्य, गुण और पर्याय से युक्त है तथा निरंतर परिणमनशील रहती है। इसलिए कहा गया है—

"परिणामो वस्तुलक्षणम्।"[1]

अर्थात् **परिणमन करते रहना ही वस्तु का लक्षण है।** *कार्तिकेयानुप्रेक्षा* में वस्तु की अनेकान्तात्मकता को उसकी कार्यकारिता का आधार बताते हुए कहा गया है—

जं वत्थु अणेयंतं ते चिय कज्जं करेदि णियमेण।
बहु धम्मजुदं अत्थं कज्जकरं दीसदे लोए।[2]

अर्थात् अनेकान्तस्वरूप और अनेक धर्मों से युक्त वस्तु ही कार्यकारी होती है। इसी प्रकार *स्याद्वादमंजरी* में **अर्थक्रियाकारित्व** को वस्तु का लक्षण तथा गुण -पर्यायों के आश्रय को वस्तु का स्वरूप माना गया है।

'वस्तुत्व' के संबंध में *आलापपद्धति* कहती है—

"वस्तुनो भावो वस्तुत्वम्, सामान्यविशेषात्मकं वस्तु।"[3]

अर्थात् **वस्तु का भाव ही वस्तुत्व है।** *सप्तभंगोत्तरङ्गिनी* में स्व-स्वरूप के ग्रहण और पर-स्वरूप के त्याग को वस्तुत्व की व्यवस्था का आधार माना गया है।

इन्हीं दार्शनिक सिद्धांतों को आचार्यश्री विशुद्धसागरजी महाराज ने *वस्तुत्व महाकाव्य* में सरल काव्यात्मक रूप दिया है—

वस्तु वस्तु स्वाधीन
नहीं कोई भी वस्तु
किसी अन्य वस्तु के आधीन।

---

[1] *लि.वि./मूलवृत्ति/4/15/293/11*

[2] ***कार्तिकेयानुप्रेक्षा/225***

[3] *आलापपद्धति,* 6

निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने पर भी
प्रत्येक वस्तु है स्वाधीन।

आगे वस्तु के त्रैकालिक स्वरूप तथा चेतन-अचेतन भेद को स्पष्ट करते हुए महाकाव्य में वस्तु के **ध्रौव्य, परिणमन, चेतना, ज्ञान और दर्शन** का निरूपण मिलता है।

इस प्रकार *वस्तुत्व* केवल वस्तु के अस्तित्व का बोध नहीं, बल्कि **वस्तु के वास्तविक स्वरूप को जानने की दृष्टि** है। यही दृष्टि आगे चेतन आत्मा के स्वरूप-बोध तक पहुँचती है। अतः *वस्तुत्व महाकाव्य* में 'वस्तुत्व' की अवधारणा **वस्तु-बोध से आत्मबोध और आत्मबोध से आत्मोन्नति** की दार्शनिक यात्रा का आधार बनती है।

❖ **आत्मा : वस्तुत्व महाकाव्य का केंद्रीय पात्र**

परंपरागत महाकाव्यों में नायक प्रायः राजा , योद्धा, देव या महापुरुष होता है , किंतु *वस्तुत्व महाकाव्य* की विशिष्टता यह है कि यहाँ चेतन आत्मा ही केंद्रीय पात्र है। इसकी कथा बाह्य विजय की नहीं, बल्कि आत्मविजय और आत्मशोधन की आध्यात्मिक यात्रा है।

महाकाव्य में आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

चैतन्य वस्तु,
ज्ञान-दर्शन स्वभावी।
ज्ञाता ज्ञेय-तत्त्व युक्त,
स्वयं स्वयं में पूर्ण।
नहीं किंचित् स्वगुणों में अपूर्ण।
परगुणों से पूर्ण-अपूर्ण,
सुख-वीर्य अनंत–
चैतन्य भगवान्।

इन पंक्तियों में आत्मा को चैतन्यस्वरूप, ज्ञान-दर्शनमय और अनंत सुख-वीर्य से युक्त बताते हुए आत्मा अपने स्वगुणों की दृष्टि से पूर्ण है ; उसकी अपूर्णता परद्रव्य अथवा परभाव के कारण दिखाई देती है। अतः आत्मा की वास्तविक यात्रा बाह्य उपलब्धियों की नहीं , बल्कि अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप की पहचान और उसमें प्रतिष्ठित होने की यात्रा है।

यही *वस्तुत्व महाकाव्य* की केंद्रीय आत्मिक दृष्टि है। इसका नायक किसी एक ऐतिहासिक व्यक्ति का प्रतिनिधि नहीं, बल्कि प्रत्येक जीव की आत्मोन्नति और परमात्मत्व की संभावित यात्रा का प्रतीक है इसीलिए इसकी कथा सार्वभौमिक बन जाती है –आत्मा ही साध्य है , आत्मा ही साधक है और आत्मा ही अपनी सिद्धि का आधार है।

धर्म : बाह्य आचरण से आत्मस्वरूप तक

***वस्तुत्व महाकाव्य* में धर्म केवल बाह्य अनुष्ठान या धार्मिक आडंबर न होकर आत्मस्वरूप की पहचान और जीवन के परिष्कार की प्रक्रिया है। धर्म की सार्थकता तभी है , जब वह मनुष्य के विचार, भाव और आचरण में परिवर्तन उत्पन्न करे। इसी संदर्भ में जैन परंपरा का दशलक्षण धर्म –**

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य—आत्मशुद्धि के व्यावहारिक सोपान के रूप में महत्त्वपूर्ण है।

दशलक्षण धर्म के प्रत्येक लक्षण का संबंध मनुष्य के आंतरिक परिष्कार से है। क्षमा क्रोध का शमन करती है, मार्दव अहंकार को दूर करता है, आर्जव कपट से मुक्त करता है, शौच लोभ और आंतरिक मलिनता का परिष्कार करता है, सत्य वाणी एवं व्यवहार में प्रामाणिकता लाता है, संयम इंद्रियों और प्रवृत्तियों को अनुशासित करता है, तप आत्मबल विकसित करता है, त्याग आसक्ति को घटाता है, आकिंचन्य परिग्रह-ममता से मुक्ति की प्रेरणा देता है और ब्रह्मचर्य आत्मचेतना को संयमित एवं ऊर्ध्वगामी बनाता है।

जैन दर्शन की दृष्टि से धर्म को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के त्रिरत्नात्मक स्वरूप में भी समझा जाता है। *वस्तुत्व महाकाव्य* की धर्म-दृष्टि इन दोनों आयामों—त्रिरत्न और दशलक्षण—को आत्मपरिष्कार की व्यापक प्रक्रिया में देखने की संभावना प्रस्तुत करती है। सम्यग्दर्शन याथात्म्य प्रतिपत्ति अर्थात् वस्तु तत्व जैसा का तैसा श्रद्धान देता है, सम्यग्ज्ञान उसका यथार्थ बोध कराता है और सम्यक्चारित्र उस बोध को जीवन में उतारता है; वहीं दशलक्षण धर्म उस चारित्रिक साधना को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करता है।

अतः *वस्तुत्व महाकाव्य* में धर्म की यात्रा ज्ञान से आचरण, आचरण से आत्मशुद्धि और आत्मशुद्धि से आत्मस्वरूप की प्रतिष्ठा की यात्रा है। यही धर्म बाह्य धार्मिकता को आंतरिक साधना में और जीवन को आत्मोन्नति की दिशा में रूपांतरित करता है।

यह अंश शोधपत्र में दशलक्षण धर्म के अंतर्गत 'उत्तम क्षमा' को मूल महाकाव्य के प्रमाण के साथ स्थापित करेगा। इसे इस प्रकार जोड़ना अधिक प्रभावी रहेगा—

- **उत्तम क्षमा : क्रोध से मैत्री और आत्मशांति की ओर**

दशलक्षण धर्म में उत्तम क्षमा का प्रथम स्थान है। क्षमा केवल किसी के अपराध को सहन कर लेना नहीं, बल्कि क्रोध, द्वेष और शत्रुता जैसे आंतरिक विकारों से स्वयं को मुक्त करने की साधना है। *वस्तुत्व महाकाव्य* में आचार्यश्री विशुद्धसागरजी महाराज ने क्षमा के इसी व्यापक आध्यात्मिक एवं सामाजिक स्वरूप को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है—

"प्रथम धर्म
क्रोध कषाय का उपशमन,
मैत्रीभाव की दृढ़ता-दाता
क्षमा धर्म,
शत्रुभाव नशाता,
विश्व-बंधुत्व सिखाता,
कालुष्यभाव मिटाता,
स्व-पर हिंसा से बचाता,

वस्तु-स्वभाव क्षमा धर्म,
क्रोध-ज्वाला को बुझाता,
शांति का परम प्याला,
अमृत-रस वाला
शीतल नीर—क्षमा धर्म।"

इन पंक्तियों में क्षमा को केवल व्यक्तिगत सद्गुण न मानकर आत्मिक शांति , मैत्री और विश्वबंधुत्व का आधार माना गया है। क्षमा क्रोध-कषाय का उपशमन करती है, शत्रुभाव को समाप्त करती है और मनुष्य को स्व -पर हिंसा से बचाती है। इस प्रकार क्षमा का प्रभाव व्यक्ति के अंतर्मन से प्रारंभ होकर परिवार, समाज और विश्व तक विस्तृत होता है।

विशेष रूप से "क्रोध-ज्वाला को बुझाता" और "शांति का परम प्याला" जैसे काव्यात्मक प्रयोग क्षमा के मनोवैज्ञानिक प्रभाव को भी स्पष्ट करते हैं। क्रोध व्यक्ति के विवेक को प्रभावित करता है, जबकि क्षमा मानसिक संतुलन और संबंधों में पुनर्स्थापन की संभावना उत्पन्न करती है। आधुनिक शिक्षा के संदर्भ में भी इसका विशेष महत्त्व है। विद्यार्थियों में क्षमा , मैत्री और सहिष्णुता के संस्कार विकसित होने से विद्यालयी वातावरण में संवाद , सहयोग और अहिंसक व्यवहार को बढ़ावा मिल सकता है।

इस प्रकार *वस्तुत्व महाकाव्य* में उत्तम क्षमा दशलक्षण धर्म का पहला सोपान होने के साथ - साथ आत्मशुद्धि, व्यक्तित्व-निर्माण, सामाजिक समरसता और विश्वबंधुत्व की आधारभूमि बनकर सामने आती है।

दार्शनिक दृष्टि से क्षमा क्रोध -कषाय के उपशमन और आत्मस्वभाव की ओर लौटने का साधन है। "वस्तु-स्वभाव क्षमा धर्म" कहकर कवि ने क्षमा को आत्मशुद्धि से जोड़ा है। यह केवल दूसरे को क्षमा करना नहीं, बल्कि स्वयं को द्वेष के बंधन से मुक्त करना है।

समकालीन दृष्टि से क्षमा तनाव , संघर्ष और असहिष्णुता को कम करने का प्रभावी मूल्य है। विद्यालयों में इसे मैत्री , संवाद, सहिष्णुता और अहिंसक व्यवहार के विकास से जोड़ा जा सकता है। उच्च शिक्षा में यह भावनात्मक परिपक्वता और संघर्ष -प्रबंधन का आधार बन सकती है। अतः उत्तम क्षमा आत्मशांति से विश्वबंधुत्व तक की जीवनदृष्टि है।

- **उत्तम मार्दव : अहंकार से विनय तक**

अहंकार : आत्मविकास में सबसे बड़ी बाधा

दशलक्षण धर्म का दूसरा लक्षण उत्तम मार्दव है। इसका प्रमुख उद्देश्य मान और अहंकार का त्याग है। *वस्तुत्व महाकाव्य* में आचार्यश्री विशुद्धसागरजी महाराज ने स्पष्ट किया है कि पद , अधिकार, ज्ञान, तप अथवा प्रतिष्ठा प्राप्त होने के बाद भी यदि व्यक्ति अहंकार से भर जाता है , तो उसकी उपलब्धियाँ आत्मविकास का साधन नहीं रह जातीं।

"धन्य धन्य धरती पर

वे नरोत्तम
जो अधिकार पाकर अहंकारी नहीं...
दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही
मान के सिंहासन पर आसीन,
फिर भी मान से भरकर
व्यर्थ का करते लोक में प्रदर्शन।"

इन पंक्तियों में आचार्यश्री ने अधिकार और अहंकार के अंतर को रेखांकित किया है। अधिकार व्यक्ति को बड़ा नहीं बनाता , बल्कि अधिकार प्राप्त होने पर उसका आचरण ही उसकी वास्तविक महानता को प्रमाणित करता है। ज्ञान , पद और प्रतिष्ठा यदि अहंकार को बढ़ाते हैं , तो वे आत्मोन्नति के स्थान पर आत्मपतन का कारण बन सकते हैं।

विनय : मार्दव धर्म का सकारात्मक स्वरूप

मार्दव का दूसरा पक्ष विनय है। अहंकार के अभाव मात्र से मार्दव पूर्ण नहीं होता ; उसके स्थान पर विनय, विवेक और सहनशीलता का विकास आवश्यक है। आचार्यश्री कहते हैं–

"मान का निर्हरण
मार्दव धर्म,
विनय-विवेक का दर्शन,
नहीं मान का किंचित् प्रदर्शन
विनय अरु सहनशीलता
शीलवंत का लक्षण।"

अर्थात् मान का निराकरण ही मार्दव धर्म है , जबकि विनय और विवेक उसके जीवनगत स्वरूप हैं। आगे आचार्यश्री दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप को विनय के साथ जोड़ते हुए कहते हैं–

"दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप
विनय से करो
स्व के अहंकार का शमन,
यदि करना है
स्व-जीवन को चमन।"

यहाँ विनय को दुर्बलता नहीं , बल्कि आत्मसंयम और व्यक्तित्व की शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। शिक्षा के क्षेत्र में इसका विशेष महत्त्व है—ज्ञान बढ़ने के साथ विनय बढ़े, अधिकार के साथ उत्तरदायित्व बढ़े और सफलता के साथ सहनशीलता विकसित हो। यही मार्दव धर्म की वास्तविक सार्थकता है।

दार्शनिक अनुशीलन :- जैन दर्शन में उत्तम मार्दव का संबंध *मान-कषाय* के क्षय अथवा उपशमन से है। ज्ञान, कुल, पद, शक्ति, संपत्ति या उपलब्धियों से उत्पन्न अहंकार आत्मा के वास्तविक स्वरूप को विस्मृत कराता है। *वस्तुत्व महाकाव्य* में "मान का निर्हरण—मार्दव धर्म" कहकर इसी प्रवृत्ति के त्याग

का संदेश दिया गया है। विनय व्यक्ति को लघु नहीं बनाता , बल्कि अहंकार से मुक्त करता है। अतः मार्दव का दार्शनिक क्रम मान से मुक्ति→ विनय-विवेक → आत्मबोध → आत्मपरिष्कार है। समकालीन अनुशीलन :- वर्तमान शिक्षा और सामाजिक जीवन में ज्ञान, पद, प्रतिभा तथा सफलता अहंकार का कारण बन सकती है। *वस्तुत्व महाकाव्य* का मार्दव -धर्म इसके स्थान पर ज्ञान के साथ विनय, अधिकार के साथ उत्तरदायित्व और सफलता के साथ सहनशीलता की प्रेरणा देता है। विद्यालय में यह विद्यार्थियों के श्रेष्ठ आचरण, शिक्षकों में विनम्रता तथा नेतृत्व में सेवाभाव विकसित कर सकता है। इस प्रकार मार्दव धर्म अहंकार -मुक्त नेतृत्व, स्वस्थ संबंध और संतुलित व्यक्तित्व - निर्माण का महत्त्वपूर्ण आधार है।

- **उत्तम आर्जव : कुटिलता से सरलता की ओर**

कुटिलता और मायाचारी : आत्मस्वरूप से विचलन

दशलक्षण धर्म का तृतीय लक्षण उत्तम आर्जव है। इसका पहला पक्ष कुटिलता , छल और मायाचारी का त्याग है। जैन दर्शन में माया आत्मा का स्वभाव नहीं , बल्कि विभावभाव है। *वस्तुत्व महाकाव्य* में इसी भाव को स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

"वक्रता, कुटिलता
वस्तु का भूतार्थ धर्म नहीं,
माया परिणाम विभावधर्म
माया से माया मिटती नहीं,
अपितु छूटता आत्मधर्म
माया के लिए भी मत करो माया,
पाना है यदि स्वात्म प्रभु की सही छाया।"

आचार्यश्री के अनुसार छल-कपट से किसी अन्य के साथ भले ही व्यवहारिक लाभ प्राप्त हो जाए, किंतु इससे आत्मा अपने सहज धर्म से दूर होती है। माया से माया समाप्त नहीं होती ; बल्कि आत्मधर्म छूटता है। अतः कुटिलता आत्मविकास में बाधक है।

सरलता : आर्जव धर्म का सकारात्मक स्वरूप

आर्जव का दूसरा और सकारात्मक पक्ष सरलता, सहजता और अवक्रभाव है। कवि कहते हैं–

"माया नहीं वस्तु का
ध्रुव ज्ञायक धर्म,
वक्रता पशुत्व की पहचान,
सहजता-सरलता
साधुत्व की जान।
...
करो प्रपंचों का त्याग,
आर्जव भाव को स्वीकार।"

सरलता का अर्थ केवल सरल व्यवहार नहीं , बल्कि मन, वचन और काय की एकरूपता है। व्यक्ति जैसा भीतर है , वैसा ही बाहर दिखाई दे —यही आर्जव की वास्तविक पहचान है। वर्तमान शिक्षा में यह मूल्य विद्यार्थियों में ईमानदारी , पारदर्शिता और प्रामाणिकता विकसित कर सकता है। परीक्षा में नकल का त्याग, व्यवहार में स्पष्टता और संबंधों में विश्वास इसके व्यावहारिक रूप हैं।

दार्शनिक अनुशीलन :- जैन दर्शन में माया आत्मा का स्वभाव नहीं , बल्कि विभावभाव है। कुटिलता और मायाचारी आत्मा को उसके सहज , ज्ञायक स्वरूप से विमुख करते हैं। *वस्तुत्व महाकाव्य* में "माया परिणाम विभावधर्म" तथा "माया नहीं वस्तु का ध्रुव ज्ञायक धर्म" कहकर इसी भेद को स्पष्ट किया गया है। इसके विपरीत आर्जव मन, वचन और काय की सरलता तथा एकरूपता है। अतः आर्जव का दार्शनिक क्रम माया से निवृत्ति → कुटिलता का त्याग → सहजता → आत्मस्वरूप की प्रतिष्ठा है।

समकालीन अनुशीलन :- आज सामाजिक, व्यावसायिक और डिजिटल जीवन में छल , दिखावा और कृत्रिमता विश्वास के संकट को जन्म दे रहे हैं। *वस्तुत्व महाकाव्य* का आर्जव धर्म प्रामाणिकता, पारदर्शिता और सरल व्यवहार की प्रेरणा देता है। विद्यालय में यह विद्यार्थियों को नकल , झूठ और छल से बचाकर ईमानदार आचरण की ओर ले जा सकता है ; उच्च शिक्षा में शोध की मौलिकता , अकादमिक ईमानदारी और पारदर्शिता के लिए उपयोगी है। इस प्रकार आर्जव व्यक्ति के चरित्र से लेकर शैक्षिक एवं सामाजिक संस्थाओं की विश्वसनीयता तक को सुदृढ़ करने वाला मूल्य है।

- **उत्तम शौच : लोभ से शुचिता-पवित्रता की ओर**

लोभ : आत्मशुद्धि में बाधक

दशलक्षण धर्म का चतुर्थ लक्षण उत्तम शौच है। इसका नकारात्मक पक्ष लोभ और परपदार्थों के प्रति ममत्व है। जैन दर्शन के अनुसार पर -पदार्थ आत्मा का स्वभाव नहीं हैं , फिर भी अज्ञानवश मनुष्य उनमें सुख और पूर्णता खोजता है। *वस्तुत्व महाकाव्य* में इसी स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

"शौच स्वभावी आत्मा,
पर-पदार्थों में किंचित् भी
आत्म-स्वभाव नहीं।
अज्ञ-प्राणी वस्तुत्व को भूल
असत् में सत्यार्थ-तत्त्व खो रहा,
मायाचारी कर आत्मधर्म-विमुख हो
भव-भव में कर रहा भ्रमण।"

लोभ व्यक्ति को अधिकाधिक संग्रह, भोग और स्वामित्व की ओर ले जाता है। परिणामतः वह आत्मस्वरूप से दूर होता जाता है। इसलिए उत्तम शौच का पहला संदेश है —लोभ और परिग्रह से आत्मा को मुक्त करना।

- **शुचिता-पवित्रता : उत्तम शौच का सकारात्मक स्वरूप**

उत्तम शौच का सकारात्मक पक्ष आंतरिक शुचिता और पवित्रता है। बाहरी जल से शरीर की स्वच्छता हो सकती है, किंतु आत्मा की शुद्धि तत्त्वबोध और आत्मबोध से होती है। कवि कहते हैं–

"ज्ञायक की शुद्धि नहीं
नदी, सरोवर, नाली के पानी में
जल से शुद्धि तन की,
जलशुद्धि नहीं चैतन्य की
शुद्धि का साधन पानी नहीं–
चैतन्य की शुद्धि
तत्त्वबोध, आत्मबोध,
वीतराग जिनवाणी।"

यहाँ शुचिता का अर्थ मन , भाव और चेतना की निर्मलता है। वर्तमान शिक्षा में इसका संबंध विद्यार्थियों के संतोष , नैतिकता, ईमानदारी और मानसिक स्वच्छता से जोड़ा जा सकता है। उच्च शिक्षा में यह निष्पक्ष चिंतन और बौद्धिक पवित्रता की प्रेरणा देती है।

दार्शनिक अनुशीलन :- जैन दर्शन में आत्मा का स्वभाव ज्ञान -दर्शनमय और शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। पर-पदार्थों में आत्मस्वभाव न होने पर भी अज्ञानवश उनमें ममत्व और आसक्ति उत्पन्न करना आत्मशुद्धि में बाधक बनता है। *वस्तुत्व महाकाव्य* बाह्य जल से शरीर की शुद्धि और तत्त्वबोध से चैतन्य की शुद्धि में स्पष्ट अंतर करता है। अतः उत्तम शौच का वास्तविक अर्थ लोभ और परिग्रह से निवृत्ति, आत्मबोध और शुद्ध ज्ञायकभाव में प्रतिष्ठा है।

समकालीन अनुशीलन :- आज स्वच्छता का अर्थ प्रायः शरीर , वस्त्र और पर्यावरण की सफाई तक सीमित रह जाता है, जबकि मानसिक और भावनात्मक स्वच्छता भी उतनी ही आवश्यक है। शिक्षा में उत्तम शौच को लोभ-मुक्ति, संतोष, नैतिकता और आत्मचिंतन से जोड़ा जा सकता है। विद्यार्थियों के लिए यह अनावश्यक संग्रह , ईर्ष्या और भौतिक प्रतिस्पर्धा से बचने की प्रेरणा देता है। उच्च शिक्षा में यह बौद्धिक ईमानदारी और निष्पक्ष चिंतन का आधार बन सकता है। इस प्रकार उत्तम शौच बाह्य स्वच्छता के साथ अंतःकरण की निर्मलता और आत्मबोध का जीवन-मूल्य है।

उत्तम सत्य : असत्य से सत्यस्वरूप की ओर

दशलक्षण धर्म का पंचम लक्षण उत्तम सत्य है। *वस्तुत्व महाकाव्य* में सत्य को केवल सत्य बोलने तक सीमित न रखकर वस्तु के यथार्थ स्वरूप की पहचान और सत्यनिष्ठ जीवन से जोड़ा गया है। आचार्यश्री विशुद्धसागरजी महाराज कहते हैं–

"वस्तु का स्वभाव,
अवस्तु का नहीं
सद्रूप वस्तु,
तभी तो अवस्तु;
वस्तु की सत्ता–

स्वसत् शून्य
जिसका कोई सत् नहीं होगा
या था नहीं,
वस्तु असत् वही।"

यहाँ सत्य का दार्शनिक आधार सत्-असत् और वस्तु-अवस्तु के यथार्थ विवेक में निहित है। जो वस्तु है , उसका अपना अस्तित्व है ; जिसका अस्तित्व नहीं है , उसे वस्तु मानना अज्ञान है। अतः सत्य का प्रथम स्वरूप यथार्थ को यथार्थ रूप में जानना है।

असत्य : यथार्थ से विचलन

असत्य केवल झूठ बोलना नहीं , बल्कि वस्तु के वास्तविक स्वरूप को न जानना अथवा जानते हुए उसका विपरीत निरूपण करना भी है। जब व्यक्ति स्वार्थ , भय, लोभ या मोह के कारण सत्य को विकृत करता है , तब वह स्वयं और समाज दोनों को भ्रमित करता है। इसलिए सत्य से विमुखता आत्मिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर हानिकारक है।

सत्यनिष्ठा : उत्तम सत्य का सकारात्मक स्वरूप

महाकाव्य में सत्य को जीवन के प्रत्येक स्तर से जोड़ते हुए कहा गया है–

"सत्य जानो-मानो,
सत्य स्वरूप पहचानो,
सत्य, सत्य स्वरूप में बोलना सीखे।
सत्य प्राण,
सत्य ब्रह्म,
सत्य शून्य जीवन मृत समान
सत्य बोलता,
सत्य सोचता,
सत्य-पथ पर चलता—
वीतरागी
करपात्री पदयात्री
भू पर सत्यधर महान्।"

यहाँ सत्य विचार , वाणी और आचरण की एकरूपता है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति सत्य को केवल बोलता नहीं, बल्कि उसे जानता, स्वीकारता और जीवन में जीता है।

दार्शनिक दृष्टि से उत्तम सत्य वस्तु के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान और उसके अनुरूप आचरण का नाम है। समकालीन दृष्टि से यह शिक्षा में ईमानदारी , परीक्षा में निष्कपटता , शोध में अकादमिक सत्यनिष्ठा, व्यवहार में पारदर्शिता और सार्वजनिक जीवन में विश्वसनीयता का आधार बन सकता है। इस प्रकार उत्तम सत्य यथार्थ-बोध से सत्यनिष्ठ आचरण तक की जीवन-यात्रा है।

हाँ, यहाँ पहले 'उत्तम संयम' की मीमांसा होनी चाहिए, उसके बाद अलग से दार्शनिक एवं समकालीन अनुशीलन। आपके शोध-पत्र की शैली में इसे इस प्रकार रखना अधिक उचित रहेगा–

- **उत्तम संयम : इंद्रिय-नियंत्रण से आत्मस्वातंत्र्य तक**

दशलक्षण धर्म का षष्ठम लक्षण उत्तम संयम है। संयम का सामान्य अर्थ है —अपनी इंद्रियों, मन और प्रवृत्तियों को अनुशासित रखते हुए अशुभ भावों से निवृत्त होना। जैन दर्शन में संयम आत्मा को विषयासक्ति और परभावों से हटाकर स्वभाव की ओर प्रवृत्त करने वाली साधना है। संयम बाहरी नियंत्रण मात्र नहीं, बल्कि भीतर से जागृत आत्मानुशासन है।

***वस्तुत्व महाकाव्य* में आचार्यश्री विशुद्धसागरजी महाराज ने संयम को इंद्रिय-निग्रह, आत्मनियंत्रण, समता और आत्मस्वातंत्र्य से जोड़ा है–**

"इंद्रियों की अशुभ चंचल-वृत्ति
नियंत्रित जहाँ,
संयमधर्म पलता वहाँ
संयम-नियम, आत्म-नियंत्रण
स्व-आत्मन् को बनाता है भगवान्,
यही है उच्च-जीवन का प्रमाण।"

इन पंक्तियों में इंद्रिय-संयम को संयम धर्म की प्रथम आवश्यकता बताया गया है। इंद्रियाँ विषयों की ओर स्वाभाविक रूप से प्रवृत्त होती हैं; यदि उनका विवेकपूर्ण नियमन न हो तो मनुष्य विषयासक्ति, भोग और अशुभ प्रवृत्तियों में प्रवृत्त हो सकता है। अतः संयम का उद्देश्य इंद्रियों का दमन मात्र नहीं, बल्कि उनकी चंचलता को नियंत्रित कर आत्मिक लक्ष्य की ओर उन्मुख करना है। आगे कवि संयमी व्यक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं–

"यमी, यम पालक भदंत,
दंती दमन करता,
स्वात्मतत्त्व से समता में रमता,
स्वतंत्रपर-भावों का क्लेश नहीं,
संग्रह-वृत्ति लेश नहीं,
करते आत्म-तत्त्व का ध्यान–
ऐसे यमी योगीश्वर
आत्मधर्मी, प्रणम्य,
प्रशान्त अरु महान्।"

यहाँ यमी वह है जो संयम का पालन करता है और दंती वह है जिसने अपनी इंद्रियों का दमन अथवा निग्रह कर लिया है। ऐसा संयमी व्यक्ति परभावों के क्लेश से मुक्त, संग्रह-वृत्ति से रहित और आत्मतत्त्व में स्थित रहता है। इस प्रकार संयम का अंतिम उद्देश्य केवल व्यवहार का अनुशासन नहीं, बल्कि समता, आत्मस्वातंत्र्य और आत्मतत्त्व में प्रतिष्ठा है।

अतः *वस्तुत्व महाकाव्य* में उत्तम संयम की अवधारणा को इस क्रम में समझा जा सकता है — इंद्रिय-निग्रह → अशुभ प्रवृत्तियों का नियंत्रण → आत्मनियंत्रण → समता → परभावों से निवृत्ति → आत्मस्वातंत्र्य।

यही संयम व्यक्ति को विषयों का दास बनने से बचाकर अपने आत्मस्वरूप का स्वामी बनने की दिशा में ले जाता है।

दार्शनिक अनुशीलन :-जैन दर्शन में संयम इंद्रिय , मन और अशुभ प्रवृत्तियों के नियमन द्वारा आत्मा को परभावों से हटाकर स्वभाव में प्रतिष्ठित करने की साधना है। *वस्तुत्व महाकाव्य* में इसका क्रम इंद्रिय-निग्रह → आत्मनियंत्रण → समता → आत्मस्वातंत्र्य के रूप में उभरता है।

समकालीन अनुशीलन :- आज डिजिटल आकर्षण , भोगवाद और चंचल जीवनशैली के बीच संयम विद्यार्थियों में अनुशासन, एकाग्रता और आत्मनियंत्रण विकसित कर सकता है। उच्च शिक्षा में यह समय-प्रबंधन, लक्ष्यनिष्ठा और संतुलित व्यक्तित्व-निर्माण का आधार बन सकता है।

हाँ। **उत्तम तप** को *वस्तुत्व महाकाव्य* की समग्र आत्मसाधना के संदर्भ में इस प्रकार रखा जा सकता है। इसमें मूल काव्य उद्धरण न जोड़कर दार्शनिक विवेचन रखा गया है, ताकि काल्पनिक उद्धरण न बनें।

- **उत्तम तप : आत्मानुशासन से आत्मनिर्माण की ओर**

दशलक्षण धर्म का सप्तम लक्षण **उत्तम तप** है। तप का सामान्य अर्थ कष्ट सहना नहीं , बल्कि **इच्छाओं, इंद्रियों और कषायों पर संयम स्थापित करते हुए आत्मा को शुद्ध करने का पुरुषार्थ** है। जैन दर्शन में तप आत्मशोधन और कर्मनिर्जरा का महत्त्वपूर्ण साधन है। बाह्य तप शरीर को अनुशासित करता है, जबकि आभ्यंतर तप आत्मा के विकारी भावों का परिष्कार करता है।

वस्तुत्व महाकाव्य की आत्मोन्मुखी दृष्टि में तप को बाहरी प्रदर्शन से नहीं , बल्कि **आंतरिक जागरण और आत्मसाधना** से जोड़कर समझना उचित है। तप का उद्देश्य शरीर को कष्ट देना नहीं , बल्कि राग , द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह और विषयासक्ति पर विजय प्राप्त करना है। जब साधक सुख - दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता और मान -अपमान में समभाव बनाए रखते हुए आत्मतत्त्व में प्रवृत्त होता है, तब तप वास्तविक अर्थ में आत्मविकास का साधन बनता है।

दार्शनिक अनुशीलनः-जैन दर्शन में तप के बाह्य और आभ्यंतर **दो रूप माने गए हैं। अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और काय-क्लेश बाह्य तप हैं; प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान आभ्यंतर तप हैं। इनका अंतिम प्रयोजन** कर्मनिर्जरा और आत्मशुद्धि **है। अतः तप का दार्शनिक क्रम** इच्छा-संयमन → कषाय-उपशमन → आत्मचिंतन → कर्मनिर्जरा → आत्मशुद्धि **है।**

समकालीन अनुशीलनः- आज भोगवादी और त्वरित-सुख की संस्कृति में आत्मसंयम और अनुशासन **की विशेष आवश्यकता है। विद्यार्थियों के लिए तप का अर्थ अनावश्यक इच्छाओं पर नियंत्रण, समय का सदुपयोग, नियमित अध्ययन, डिजिटल संयम और कठिनाइयों में धैर्य रखना हो सकता है। उच्च शिक्षा में यह** एकाग्रता, शोध-साधना, आत्मानुशासन और लक्ष्य के प्रति निरंतर पुरुषार्थ **की प्रेरणा देता है।**

- **उत्तम त्याग : ममत्व से निर्ममत्व और लोकमंगल की ओर**

दशलक्षण धर्म का आठवां लक्षण उत्तम त्याग है। त्याग का अर्थ केवल बाहरी वस्तुओं को छोड़ देना नहीं , बल्कि मोह, ममत्व और परभावों से निर्ममत्व की साधना है। *वस्तुत्व महाकाव्य* में आचार्यश्री विशुद्धसागरजी महाराज ने त्याग के आध्यात्मिक , साधनात्मक और लोककल्याणकारी स्वरूप को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त किया है–

"निर्वेग है
त्यागधर्म,
योगत्रय
परभावों से निर्ममत्व,
संयत परिणाम,
असंयम का पूर्ण विराम,
आत्म-साधना अविराम...।
सर्वद्रव्यों से मोहत्याग
बने जो वैरागी,
वन्दनीय
सर्वसाधु वीतरागी
एकत्व-में एकत्व-का
हो ध्यान,
अविश्राम।"

इन पंक्तियों में त्याग का मूल स्वरूप परभावों से निर्ममत्व और संयत परिणाम के रूप में सामने आता है। त्याग असंयम का पूर्ण विराम है और आत्म -साधना की अविराम यात्रा है। सर्वद्रव्यों

के प्रति मोह का त्याग करने वाला ही वास्तविक वैरागी है। यहाँ बाह्य परिग्रह छोड़ने की अपेक्षा अंतरंग ममत्व का त्याग अधिक महत्त्वपूर्ण है। "एकत्व में एकत्व का हो ध्यान" आत्मा की अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठा का संकेत देता है।

त्याग का दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष लोकमंगल और परोपकार है। आचार्यश्री साधु के त्यागमय जीवन को दान की भावना से जोड़ते हुए कहते हैं–

"त्यागी
त्यागधर्म
मोक्ष के लिए
करते अ-विराम,
कर-पात्री,
मौन-आत्म-विहारी
साधु-भगवान्।
दो दान–
औषध, शास्त्र, अभय, आहार,
प्रासंगिक द्रव्य-तत्त्व-विचारी,
ममत्व-उन्माद-मुक्त,
देय हो
उपकारी।"

यहाँ साधु का त्याग केवल व्यक्तिगत मोक्ष -साधना तक सीमित नहीं है। औषध , शास्त्र, अभय और आहार जैसे दानों के माध्यम से वह लोकहित का माध्यम भी बनता है। इस प्रकार त्याग में आत्मकल्याण और परोपकार का सुंदर समन्वय दिखाई देता है।

दार्शनिक अनुशीलनः- जैन दर्शन में वास्तविक त्याग बाह्य पदार्थों से अधिक आंतरिक ममत्व और आसक्ति के त्याग में निहित है। *वस्तुत्व महाकाव्य* में त्याग का क्रम मोहत्याग → निर्ममत्व → संयत परिणाम → वैराग्य → आत्मसाधना → मोक्षमार्ग के रूप में अभिव्यक्त हुआ है।

समकालीन अनुशीलनः- आज उपभोक्तावाद और संग्रह -वृत्ति के बीच उत्तम त्याग सादगी , संतोष और उत्तरदायी जीवन की प्रेरणा देता है। शिक्षा में यह विद्यार्थियों को अनावश्यक संग्रह से बचने , संसाधनों का सदुपयोग करने तथा ज्ञान , समय और सामर्थ्य को लोकहित में लगाने की प्रेरणा दे सकता है।

अतः *वस्तुत्व महाकाव्य* में उत्तम त्याग ममत्व से निर्ममत्व , संग्रह से वैराग्य , आत्मसाधना से मोक्ष और त्याग से लोकमंगल की समन्वित जीवनदृष्टि प्रस्तुत करता है।

इसे अधिक दार्शनिक गहराई , जैन आगमिक अवधारणाओं और शोधपरक भाषा के साथ रखना चाहिए। विशेष रूप से 'आकिंचन्य' को केवल संपत्ति-त्याग न मानकर परद्रव्य से ममत्व के अभाव और निज आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठा के रूप में स्थापित करना अधिक स्तरीय होगा।

- **उत्तम आकिंचन्य : परद्रव्य-ममत्व से आत्मस्वरूप की प्रतिष्ठा तक**

दशलक्षण धर्म का नवम लक्षण उत्तम आकिंचन्य है। 'आकिंचन्य' का मूल भाव है —किंचन अर्थात् 'कुछ मेरा है' इस ममत्व-बुद्धि का अभाव। इसलिए आकिंचन्य केवल धन , संपत्ति अथवा बाह्य परिग्रह के त्याग का नाम नहीं , बल्कि आत्मा को परद्रव्य , परभाव और परिग्रहजन्य ममत्व से विमुक्त करने की आंतरिक साधना है। जब आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होकर पर को 'अपना' मानने की भ्रांति से मुक्त होती है, तभी आकिंचन्य की वास्तविक अनुभूति होती है।

आचार्यश्री विशुद्धसागरजी महाराज ने *वस्तुत्व महाकाव्य* में आकिंचन्य को आत्मा की स्वतंत्र सत्ता और निजभाव की प्रतिष्ठा से जोड़ते हुए कहा है—

"एकत्व-विभक्त स्वभावी
निज भगवानात्मा,
परभावों का अभाव
निज भाव में
अभाव-भाव,
भाव-अभाव,
भावाभाव स्वभावी
चैतन्य भगवानात्मा
निजलोक में
परलोक का अंश मात्र नहीं,
परलोक से आकिंचन्य
हंसात्मा,
ध्रुव परमात्मा।"

इन पंक्तियों में आकिंचन्य का आधार आत्मा और परद्रव्य की भिन्नता में निहित है। "एकत्व-विभक्त स्वभावी निज भगवानात्मा" आत्मा की स्वतंत्र सत्ता को उद्घाटित करता है। आत्मा अपने निजभाव में चैतन्यस्वरूप है; परभाव उसका स्वभाव नहीं। इसलिए "परभावों का अभाव निज भाव में" आकिंचन्य की मूल दार्शनिक भूमि बनता है।

"निजलोक में परलोक का अंश मात्र नहीं" पंक्ति विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। इसका आशय यह है कि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वरूप में स्वतंत्र है। आत्मा का लोक आत्मस्वरूप है और परद्रव्य का लोक उससे भिन्न है। दोनों के बीच निमित्त -नैमित्तिक संबंध हो सकता है , किंतु कोई भी परद्रव्य आत्मा का स्वरूप नहीं बन जाता। अतः परद्रव्य में 'मेरा' भाव करना वस्तु -विवेक की दृष्टि से मिथ्यात्व और ममत्व का कारण बनता है।

आकिंचन्य : बाह्य अपरिग्रह से आगे

अपरिग्रह और आकिंचन्य परस्पर संबद्ध होते हुए भी उनके केंद्र में सूक्ष्म अंतर है। अपरिग्रह बाह्य एवं आंतरिक परिग्रह के त्याग पर बल देता है , जबकि आकिंचन्य उस ममत्व -बुद्धि के मूल

उच्छेद की ओर संकेत करता है जिसके कारण परिग्रह 'मेरा' प्रतीत होता है। वस्तु का होना बंधन नहीं; वस्तु में 'मैं' और 'मेरा' की स्थापना बंधन का कारण बनती है।

इसलिए आकिंचन्य की साधना में प्रश्न यह नहीं है कि व्यक्ति के पास कितना है, बल्कि यह है कि जो कुछ है , उसके प्रति उसकी ममता कितनी है। बाह्य संपत्ति का त्याग करके भी यदि मन में ममत्व बना हुआ है तो आकिंचन्य पूर्ण नहीं हुआ। इसके विपरीत आवश्यक वस्तुओं के बीच रहते हुए भी यदि व्यक्ति उनमें अनासक्त और निर्मम है, तो वह आकिंचन्य की दिशा में अग्रसर है।

दार्शनिक अनुशीलन :- जैन दर्शन में आत्मा चैतन्य , ज्ञान-दर्शनमय और स्वद्रव्य-स्वभाव में स्वतंत्र है। परद्रव्य में अपनत्व -बुद्धि आत्मा के शुद्ध स्वरूप का धर्म नहीं , बल्कि अज्ञानजनित परभाव है। *वस्तुत्व महाकाव्य* इसी सत्य को काव्यात्मक रूप में उद्घाटित करता है। आकिंचन्य का दार्शनिक क्रम है— परद्रव्य-विवेक → ममत्व का क्षय → परभाव से निवृत्ति → निजभाव में प्रतिष्ठा → आत्मस्वरूप का अनुभव। अतः आकिंचन्य वस्तुओं से पलायन नहीं, बल्कि वस्तुओं के मध्य रहते हुए भी उनसे आत्मिक निर्लेपता की साधना है।

समकालीन अनुशीलन :- आज का मनुष्य वस्तुओं से अधिक उनके प्रति अपनी मनोवैज्ञानिक आसक्ति से बंधा हुआ है। धन , पद, प्रतिष्ठा, ब्रांड, तकनीक, सोशल मीडिया और उपलब्धियों को अपनी पहचान मान लेने से निरंतर तुलना, असंतोष और तनाव उत्पन्न होता है। आकिंचन्य इस प्रवृत्ति के सामने सादगी, संतोष, अनासक्ति और आत्मनिर्भरता का विकल्प प्रस्तुत करता है।

शिक्षा के क्षेत्र में इसका विशेष महत्त्व है। विद्यार्थियों को केवल अधिक प्राप्त करने की प्रतिस्पर्धा के स्थान पर अपनी क्षमता , ज्ञान और चरित्र को वास्तविक संपदा मानने की प्रेरणा दी जा सकती है। उच्च शिक्षा में यह शोधार्थी को पद , पुरस्कार और प्रतिष्ठा के मोह से ऊपर उठकर ज्ञान की निष्पक्ष साधना की ओर प्रेरित कर सकता है।

इस प्रकार *वस्तुत्व महाकाव्य* में उत्तम आकिंचन्य परिग्रह की मात्रा घटाने से अधिक ममत्व की जड़ काटने का दर्शन है। इसका अंतिम संदेश है —पर से निर्लेप होकर निज में प्रतिष्ठित होना ही वास्तविक आंतरिक संपन्नता है।

- **उत्तम ब्रह्मचर्य : आत्मबोध से परमात्मबोध की ओर**

दशलक्षण धर्म का दशम लक्षण उत्तम ब्रह्मचर्य है। 'ब्रह्म' का अर्थ आत्मा और 'चर्या' का अर्थ उसमें रमण करना है। अतः ब्रह्मचर्य का व्यापक दार्शनिक अर्थ परभावों से निवृत्त होकर निज आत्मस्वरूप में निरंतर स्थित होना है। यह केवल इंद्रिय -संयम अथवा विषय -विरक्ति तक सीमित नहीं, बल्कि आत्मा की चैतन्य सत्ता में लीन होने की साधना है।

आचार्यश्री विशुद्धसागरजी महाराज *वस्तुत्व महाकाव्य* में ब्रह्मचर्य को आत्मा के परमात्मस्वरूप से जोड़ते हुए कहते हैं—

"आत्मा बनती परमात्मा,
परम ब्रह्म स्वभावी।
परमात्मा बनने का

साधकतम करण—
परभावों से भिन्नत्व की अनुभूति,
निजब्रह्म अनुभूति
प्रज्ञा व्यवभिचार-शून्य,
ब्रह्म-ब्रह्म में लीनता ही
ब्रह्मचर्य धर्म,
एक मात्र
चैतन्य-प्रिया का वेदक धर्म।"

इन पंक्तियों में ब्रह्मचर्य का अत्यंत सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप व्यक्त हुआ है। आत्मा का परमात्मा बनना बाह्य परिवर्तन नहीं, बल्कि परभावों से भिन्न अपने निज ब्रह्मस्वरूप की अनुभूति है। जब प्रज्ञा परभावों की ओर विचलित न होकर निरंतर आत्मचैतन्य में स्थित रहती है तब ब्रह्म में ब्रह्म की लीनता ही ब्रह्मचर्य बन जाती है।

दार्शनिक अनुशीलन :- जैन दर्शन में ब्रह्मचर्य का परम स्वरूप परभावों से निवृत्त होकर निज आत्मा में रमण है। *वस्तुत्व महाकाव्य* इसे आत्मा के परमात्मत्व की दिशा में ले जाने वाली साधना मानते हुए निजब्रह्म-अनुभूति को ब्रह्मचर्य की चरम परिणति के रूप में प्रस्तुत करता है।

समकालीन अनुशीलन :- वर्तमान जीवन में ब्रह्मचर्य को व्यापक अर्थ में इंद्रिय -संयम, विचार-पवित्रता, डिजिटल संयम और ऊर्जा के सृजनात्मक उपयोग से जोड़ा जा सकता है। शिक्षा में यह विद्यार्थियों को एकाग्रता , आत्मनियंत्रण और लक्ष्यनिष्ठ जीवन की प्रेरणा देकर संतुलित एवं चरित्रवान व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक हो सकता है।

- **समेकित दार्शनिक अनुशीलन :- *वस्तुत्व महाकाव्य* में धर्म का मूल लक्ष्य बाह्य जगत् को बदलना नहीं, बल्कि स्वयं के भाव -जगत् का परिष्कार है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप के बोध से आत्मबोध , आत्मबोध से सम्यक् दृष्टि और सम्यक् दृष्टि से संयमित आचरण की प्रक्रिया विकसित होती है।**

महाकाव्य की दार्शनिक यात्रा को इस सूत्र में व्यक्त किया जा सकता है — वस्तुबोध → आत्मबोध → कषाय-परिष्कार → आत्मानुशासन → आत्मशुद्धि → आत्मस्वरूप-प्रतिष्ठा → परमात्मत्व।

यहाँ धर्म किसी बाहरी सत्ता द्वारा आरोपित आचार-संहिता नहीं, बल्कि आत्मा के शुद्ध स्वरूप की ओर लौटने की प्रक्रिया बन जाता है। इसी कारण महाकाव्य में आत्मा साधक भी है और साध्य की दिशा में अग्रसर सत्ता भी।

समकालीन अनुशीलनः- वर्तमान युग में विज्ञान और तकनीक ने मनुष्य को अभूतपूर्व सुविधाएँ दी हैं, किंतु साथ ही तनाव , असहिष्णुता, उपभोक्तावाद, संग्रहवृत्ति, प्रतिस्पर्धा और नैतिक संकट भी बढ़े हैं। ऐसी स्थिति में *वस्तुत्व महाकाव्य* का धर्म -दर्शन आंतरिक संतुलन और नैतिक जीवन का वैकल्पिक मार्ग प्रस्तुत करता है।

इसकी प्रासंगिकता केवल धार्मिक समुदाय तक सीमित नहीं है। क्षमा सार्वभौमिक मैत्री का , मार्दव विनम्र नेतृत्व का , आर्जव पारदर्शिता का , शौच संतोष का , सत्य विश्वसनीयता का , संयम

आत्मनियंत्रण का , तप पुरुषार्थ का , त्याग सेवा का , आकिंचन्य अनासक्ति का और ब्रह्मचर्य एकाग्रता का मूल्य बन सकता है।

- **निष्कर्षः- *वस्तुत्व महाकाव्य* का धर्म -दर्शन बाह्य आडंबर से अंतरंग साधना , परभाव से स्वभाव , असंयम से आत्मानुशासन और आत्मबोध से परमात्मबोध की यात्रा है। इसकी विशिष्टता यह है कि दार्शनिक सिद्धांतों को केवल शास्त्रीय भाषा में न रखकर काव्यात्मक एवं जीवनोपयोगी रूप में प्रस्तुत किया गया है।**

दशलक्षण धर्म के माध्यम से महाकाव्य मनुष्य के दस प्रमुख आंतरिक परिष्कारों की ओर संकेत करता है —क्रोध के स्थान पर क्षमा , अहंकार के स्थान पर विनय , कुटिलता के स्थान पर सरलता, लोभ के स्थान पर शुचिता, असत्य के स्थान पर सत्य, असंयम के स्थान पर संयम, प्रमाद के स्थान पर तप, ममत्व के स्थान पर त्याग, परिग्रह के स्थान पर आकिंचन्य और विषयासक्ति के स्थान पर आत्मरमण।

इस प्रकार *वस्तुत्व महाकाव्य* को केवल धार्मिक अथवा दार्शनिक कृति के रूप में देखना उसके व्यापक महत्त्व को सीमित करना होगा। यह व्यक्तित्व -निर्माण, मूल्य-शिक्षा, नैतिक नेतृत्व, सामाजिक समरसता और आत्मचेतना का काव्यात्मक पाठ भी है। इसकी सबसे बड़ी समकालीन उपयोगिता यही है कि यह मनुष्य को संसार से पलायन नहीं, बल्कि अपने भीतर परिवर्तन का आह्वान करता है।

अंततः कहा जा सकता है कि *वस्तुत्व महाकाव्य* का धर्म "जानो, पहचानो, जियो और आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होओ" की जीवन -दृष्टि है। यही इसकी दार्शनिक प्रासंगिकता और वर्तमान शिक्षा एवं समाज के लिए इसकी स्थायी उपयोगिता है।

- **संदर्भ-ग्रंथ -**

1. **वस्तुत्व महाकाव्य — आचार्यश्री 108 विशुद्धसागरजी महाराज।**
2. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 225।**
3. **आलापपद्धति, 6।**
4. **स्याद्वादमंजरी, 5 एवं 23।**
5. **सप्तभंगोत्तरङ्गिनी, 38।**
6. **लघुवृत्ति/मूलवृत्ति, 4/15/293/11।**